प्राचीन भारत में शिक्षा पद्धति, उद्देश्य एवं वैदिक गुरुकुल पद्धति

TOPIC- Aims and Ideals of Ancient Education in Ancient India and Vedic Gurukul System

Dr. Manoj Kumar
Assistant Professor (Guest)
Dept. of A.I.H. & Archaeology,
Patna University, Patna-800005

P.G./ M.A. IInd Semester ,

Dept. of A.I.H.& Archaeology. Patna University

Paper- C.C.-5, SOCIAL –ECONOMIC HISTORY OF ANCIENT INDIA

प्राचीन भारत में जिस शिक्षा व्यवस्था का निर्माण किया गया था वह समकालीन विश्व की शिक्षा व्यवस्था से समुन्नत व उत्कृष्ट थी लेकिन कालान्तर में भारतीय शिक्षा का व्यवस्था ह्रास हुआ। भारत की प्राचीन शिक्षा आध्यात्मिकता, नैतिकता, सामाजिकता तथा कौशल वृद्धि के समन्वय पर आधारित थी। शिक्षा, मुक्ति एवं आत्मबोध के साधन के रूप में थी। यह व्यक्ति के लिये नहीं बल्कि धर्म एवं नैतिकता के लिये थी। भारत की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक परम्परा विश्व इतिहास में प्राचीनतम है।भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों के विधिवत् निर्वाह के लिये शिक्षा की महती आवश्यकता को सदा स्वीकार किया गया । डॉ॰ अल्तेकर के अनुसार, वैदिक युग से लेकर अब तक भारतवासियों के लिये शिक्षा का अभिप्राय यह रहा है कि शिक्षा प्रकाश का स्रोत है तथा जीवन के विभिन्न कार्यों में यह हमारा मार्ग आलोकित करती है। प्राचीन भारत की शिक्षा का प्रारंभिक रूप हम ऋग्वेद में देखते हैं। ऋग्वेद युग की शिक्षा का उद्देश्य था तत्वसाक्षात्कार। ब्रह्मचर्य, तप और योगाभ्यास से तत्व का साक्षात्कार करनेवाले ऋषि, विप्र, वैघस, कवि, मुनि, मनीषी के नामों से प्रसिद्ध थे। साक्षात्कृत तत्वों का मंत्रों के आकार में संग्रह होता गया वैदिक संहिताओं में, जिनका स्वाध्याय, सांगोपांग अध्ययन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन वैदिक शिक्षा रही।

शिक्षा के महत्ता को प्रकट करने वाले दृष्टिकोण : सुभाषित रत्नसंदोह में कहा गया है कि 'ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है जो उसे समस्त तत्वों के मूल को जानने में सहायता करता है तथा सही कार्यों को करने की विधि बताता है ।' महाभारत में वर्णित है कि विद्या के समान नेत्र तथा सत्य के समान तप कोई दूसरा नहीं है (नास्ति विद्यासमं चक्षुनास्ति सत्यसमं तपः) । इसे मोक्ष का साधन माना गया है । सुभाषितरत्न भण्डार में कहा (सा विद्या या विमुक्तये) को दूर करने वाले ज्ञान रूपी नेत्र गया है कि जीवन की समस्त कठिनाइयों तथा बाधाओं

जिसे प्राप्त नहीं है, वह वस्तुतः अन्धा है । प्राचीन भारतीयों का यह दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा द्वारा प्राप्त एवं विकसित की गयी बुद्धि ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति होती है । । विद्या के विविध उपयोग बताये गये हैं । यह (बुद्धिर्यस्य बलं तस्य)'माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हितकारी कार्यों में नियोजित करती है, पत्नी के समान दुखों को दूर कर आनन्द पहुँचाती है, यश तथा वैभव का विस्तार करती है । यह कल्पलता के समान गुणकारी है ।' विद्या, विनय प्रदान करती है, विनय से पात्रता आती है (निपुणता), पात्रता से व्यक्ति धन प्राप्त करता है, धन से धर्म तथा अन्ततोगत्वा सुख की प्राप्ति होती है । 'विद्या को सभी धनों में प्रधान निरूपित करते हुए बताया गया है कि इसे न चोर चुरा सकता है, न भाई बँटा सकता, न राजा छीन सकता है और न ही यह मनुष्य के लिये भारतुल्य होती है । यह ऐसा धन है जो व्यय करने पर भी बराबर बढ़ता है ।' उद्देश्य मात्र पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना नहीं था अपितु मनुष्य के स्वास्थ्य का भी विकास करना था । कहा गया है कि शास्त्रों का पण्डित भी मूर्ख है यदि उसने कर्मशील व्यक्ति के रूप में निपुणता प्राप्त नहीं की है यस्तु कियावान्प :शास्त्रण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा)ुरुष। (सएव : शिक्षा के द्वारा मनुष्य आजीविका का उत्तम साधन प्राप्त करता है । इसे मात्र आजीविका का साधन मानना भारतीयों की दृष्टि में अभीष्ट नहीं था । ऐसी मान्यता वालों की निन्दा की गयी है । प्राचीन विचारकों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के साथ आजीवन चलने वाली वस्तु है ।

अक्षरारम्भ एवं उपनयन संस्कार : अक्षरारम्भविद्यारम्भ का अभिप्राय बालक को शिक्षा के / गुरुकुल की परम्परा थी तो प्रारम्भिक स्तर से परिचित कराना है। प्राचीन काल में जब बाप -बालक को वेदाध्ययन के लिये भेजने से पहले घर में अक्षर बोध कराया जाता था। माँ तथा गुरुजन पहले उसे मौखिक रूप से श्लोक, पौराणिक कथायें आदि का अभ्यास करा दिया करते थे ताकि गुरुकुल में कठिनाई न हो। प्राचीन काल में जब गुरुकुल की परम्परा थी उस समय प्राय :9 से 13 वर्ष उम्र तक समस्त वर्ण के पुत्रों का यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हो जाता था। इसके बाद बालक विशेष अध्ययन के लिये गुरुकुल जाता था। यज्ञोपवीत से ही बालक को ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी जाती थी जिसका पालन गृहस्थाश्रम में आने से पूर्व तक किया जाता था। उपनयन संस्कार के माध्यम से अभिभावक अपने पुत्र को उसके होने वाले गुरु को संकल्प लेकर सौपता था और गुरु भी अभिभावक को पुत्र का संरक्षण एक पिता की तरह करने का वचन देता था, जिसके कारण पुत्र के दूसरे जन्म की संकल्पना आती है । अब उसे द्विज नामकरण का सम्बोधन प्राप्त हो जाता था ।

वैदिक गुरुकुल पद्धति: प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का एक प्रमुख तत्व गुरुकुल व्यवस्था है । इसमें विद्यार्थी अपने घर से दूर गुरु के घर पर निवास कर शिक्षा प्राप्त करता था । कभी-कभी वह शिक्षा केन्द्रों से सम्बद्ध छात्रावासों में निवास करता था । इस प्रकार के विद्यार्थियों

को'अन्तेवासी' अथवा 'आचार्य कुलवासी' कहा गया है। धर्मग्रन्थों में विहित है कि विद्यार्थी उपनयन संस्कार के साथ ही गुरुकुल में निवास करे तथा विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त करे। गुरु के समीप रहते हुए विद्यार्थी उसके परिवार का एक सदस्य हो जाता था तथा गुरु उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था। गुरुकुल में बह्मचर्यपूर्वक रहते हुये विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करता था। वहाँ उसे गुरु के पहले उठना तथा उसके सो जाने पर सोना पड़ता था। गुरु की सेवा करना उसका परम कर्तव्य था। उसकी सेवाओं के बदले में गुरु भी उसके ऊपर व्यक्तिगत ध्यान रखता था तथा पूरी लगन के साथ उसे विविध विद्याओं और कलाओ की शिक्षा प्रदान करता था। प्राचीन व्यवस्थाकारों ने गुरु के साथ विद्यार्थी के सान्निध्य के महत्व को समझा था और इसी कारण गुरुकुल पद्धति पर बल दिया। गुरु के चरित्र तथा आचरण का शिष्य के मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता था तथा वह उसका अनुकरण करता था। परिवार के वातावरण से दूर रहने के कारण उसमें आत्मनिर्भरता की भावना विकसित होती - अधिक अच्छा परिचय प्राप्त कर सकता था। उसमें थी तथा वह संसार की गतिविधियों से अनुशासन की प्रवृत्ति का भी उदय होता था। इसी कारण महाभारत में गुरुकुल की शिक्षा को घर की शिक्षा की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय बताया गया है। गुरुकुल सदैव वनों में ही स्थित नहीं होते थे। कुछ प्रसिद्ध मुनियों जैसे बाल्मीकि, कण्व, संदीपनि आदि के आश्रम वनों में ही थे तथा उन्होंने अपने आश्रमों में सैकड़ों विद्यार्थियों को पढाने की व्यवस्था कर रखी थी किन्तु अधिकांशतः गुरुकुल ग्रामों तथा नगरों में अवस्थित होते थे। शिक्षक गृहस्थ थे और स्वाभाविक रूप से वे उन्हें अपने निवासस्थान के समीप ही रखते थे। यह आवश्यक था कि - गुरुकुल ग्राम या नगर में किसी उपवन या एकान्त स्थान पर स्थित हों। शिक्षा केन्द्र अधिकतर नगरों में तथा अग्रहार ग्रामों में थे। तक्षशिला के अध्यापक राजधानी में ही रहा करते थे।

प्राचीन साहित्य में गुरुकुलों में रहकर अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के नाम मिलते है। ज्ञात होता है कि इतिहास के विभिन्न युगों में शिक्षा की गुरुकुल पद्धति का प्रचलन था। छान्दोग्योपनिषद् से पता चलता है कि उद्दालक आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु ने गुरुकुल में रहकर ही अध्ययन किया था। विष्णुपुराण से ज्ञात होता है कि कृष्ण तथा बलराम ने ऋषि सन्दीपनि के आश्रम में रहकर अध्ययन किया था। रामायण में भारद्वाज तथा बाल्मीकि के गुरुकुलों का उल्लेख मिलता है। महाभारत से ज्ञात होता है कि कण्व तथा मार्कण्डेय ऋषियों के आश्रम प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र थे। मुनि दुर्वासा के आश्रम में दस हजार विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। ऐतिहासिक काल में हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला के आचार्य चाणक्य के साथ रहकर शिक्षा प्राप्त किया था।

गुप्त युग में ब्राह्मणों को जो भूमिदान दिया जाता था उसे अग्रहार कहा जाता था। ये अग्रहार भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। शिक्षा का उद्देश्य उद्देश्य मात्र पुस्तकीय ज्ञान : प्राप्त करना नहीं था अपितु मनुष्य के स्वास्थ्य का भी विकास करना था। कहा गया है कि कर्मशील व्यक्ति के रूप में निपुणता प्राप्त नहीं की है शास्त्रों का पण्डित भी मूर्ख है यदि उसने शास्त्रण्यधीत्यापि भवन्ति)मूर्खा। (सएव :यस्तु कियावान्पुरुष : शिक्षा के द्वारा मनुष्य आजीविका का उत्तम साधन प्राप्त करता है। इसे मात्र आजीविका का साधन मानना भारतीयों की दृष्टि में अभीष्ट नहीं था। ऐसी मान्यता वालों की निन्दा की गयी है। प्राचीन विचारकों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के साथ आजीवन चलने वाली वस्तु है।विभिन्न ग्रन्थों में इससे सम्बन्धित जो उल्लेख मिलते है उनके आधार पर प्राचीन शिक्षा के उद्देश्यों तथा आदर्शों की जानकारी कर सकते हैं।

(i) **चरित्र का निर्माण:** शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना था। भारतीय शास्त्रों में सच्चरित्रता को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। यह व्यक्ति का सबसे बड़ा आभूषण है। चरित्र एवं आचरण से हीन व्यक्ति की सर्वत्र निन्दा की गयी है। मनुस्मृति में वर्णित है कि 'सभी वेदों का ज्ञाता विद्वान् भी सच्चरित्रता के अभाव में श्रेष्ठ नहीं है, किन्तु केवल गायित्री मन्त्र का ज्ञाता पण्डित भी यदि वह चरित्रवान् हैं तो श्रेष्ठ कहलाने योग्य हैं।'शिक्षा के द्वारा मनुष्य जो ज्ञान तथा शक्ति प्राप्त करता है उससे उसमें नैतिक गुणों का उदय होता है तथा सन्मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा उसे प्राप्त होती है। भारतीय विचारकों ने चरित्र को विद्वता से अधिक महत्वपूर्ण माना है।इनके द्वारा विद्यार्थी को अपना चरित्र निर्माण करने में सहायता मिलती थी। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए शौच, आचार, स्नान, सन्ध्योपासना आदि विद्यार्थी के चरित्र के मूल आधार थे जो उसके चरित का उत्थान करते थे।विद्यार्थी के समक्ष महापुरुषों जैसे हरिश्चन्द्र, राम, लक्ष्मण, हनुमान, भीष्म तथा सीता, सावित्री, अनसुय्या, द्रौपदी जैसी महान् नारियों के उच्च चरित्र का आदर्श प्रस्तुत किया जाता था जिससे उसके चरित्र निर्माण में प्रेरणा मिलती थी ।

(ii) **व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास:** प्राचीन शिक्षा का एक उद्देश्य विद्यार्थी को व्यक्तित्व के विकास का पूरा अवसर प्रदान करना था। भारतीय व्यवस्थाकारों ने व्यक्तित्व को दयाने का कभी भी प्रयास नहीं किया। कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि यहाँ की शिक्षा पद्धति में कठोर अनुशासन के द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को दबा दिया गया जिससे उनका समुचित विकास नहीं हो सका।प्राचीन शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी के बौद्धिक विकास के साथसाथ - शारीरिक विकास का भी पूरा ध्यान रखा गया था।'स्वस्थ्य मस्तिष्क का अधिष्ठान स्वस्थ्य शरीर होता है' यह धारणा प्राचीन भारतीय चिन्तकों को मान्य थी। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी

में आत्मसम्मान-, आत्मविश्वास-, आत्मसंयम-, विवेकशक्ति-, न्याय शक्ति आदि गुणों का-उदय होता था जो उसके व्यक्तित्व को विकसित करने में सहायक थे ।आत्मसंयम एवं आत्मानुशासन की प्रवृत्तियाँ भी व्यक्तित्व के निर्मााण में सहायक होती थीं । उसे अपने इन्द्रियों की उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखना पड़ता था । आहार, विहार, वस्त्र, आचरण आदि सभी को उसे नियमित करना होता था । शुद्धता एवं सादगी उसके जीवन के मुख्य ध्येय थे ।

(iii) **नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान:** प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का बोध कराकर उसे सुयोग्य नागरिक बनाना भी था । अध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार का आयोजन किया जाता था जिसमें आचार्य विद्यार्थी के समक्ष उसके भावी कर्तव्यों को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता था । तैत्तिरीय उपनिषद् में इसे इस प्रकार रखा गया है: सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना । अपने परिश्रम में आलस्य मत करना । गुरु को दक्षिणा देने के बाद सन्तति उत्पादन की (स्वाध्याय) परम्परा को विच्छिन्न मत करना । सत्यमार्ग से विचलित मत होना । धर्मसे विचलित मत होना । लाभकारी कार्यों में प्रमाद मत करना । महान् बनने का अवसर न खोना ।अध्ययन-त करना । देवताओं तथा पितरों के यज्ञअध्यापन के कर्तव्यों की उपेक्षा म, श्रद्धादि की उपेक्षा मत करना । माता को देवी मानना । आचार्य को देवता मानना । पिता को देवता मानना । अपने अतिथि को देवता समझना । दोष रहित कार्यों को करना, अन्य नहीं । लोगों के अच्छे कार्यों का अनुकरण करना ।जो कुछ भी दान करना, श्रद्धा, विश्वास, आनन्द, विनम्रता, भय तथा दयालुता से करना । कर्तव्य अथवा आचरण में किसी प्रकार के संदेह होने पर उत्तम विवेक वाले ब्राह्मणों की भाँति आचरण करना । इस प्रकार आचार्य विद्यार्थी को उसके सभी सामाजिक कर्तव्यों का बोध करा देता था । अध्ययनोपरान्त वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता तथा आचार्य द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करते हुए देश तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता था । विभिन्न व्यवसायों में अपनी अलग-अलग आचार संहितायें होती थीं । इसमें सामाजिक कर्तव्यों पर विशेष बल दिया गया था । चिकित्सकों से अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने जीवन के मूल्य पर भी रोग एवं कष्ट का निदान करें । योद्धा वर्ग प्राणोत्सर्ग द्वारा देश एवं समाज की रक्षा करने की शिक्षा प्राप्त करता था ।विभिन्न शिल्पियों के लिये अलग-रा वे अपनाअलग आचार सहितायें थीं जिनके द्वा-अपना कार्य सम्पन्न करते हुए समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करते थे ।

(iv) **सामाजिक सुख तथा कौशल की वृद्धि:** भारतीय शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक सुख एवं निपुणता को प्रोत्साहन प्रदान करना भी था । केवल संस्कृति अथवा मानसिकता और बौद्धिक शक्तियों को विकसित करने के लिये ही शिक्षा नहीं दी जाती थी, अपितु इसका मुख्य

ध्येय विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों आदि में लोगों को दक्ष बनाना था । भारतीय समाज में श्रम विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था। पेशे प्रायः वंशानुगत होते थे। विभिन्न वर्णों के लोग अपनीअपनी आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा प्राप्त करके - अपने कर्मों में निपुणता प्राप्त करते थे। गीता में वर्णित है कि-अपने'अपनेअपने कर्मो -ं में रत मनुष्य ही सिद्धि को प्राप्त करता है।' भारतीय शिक्षा पद्धति ने सदैव यह उद्देश्य अपने समक्ष रखा कि नई पीढ़ी के युवकों को उनके आनुवंशिक व्यवसायों में कुशल बनाया जाये। सभी प्रकार के कार्यों के लिये शिक्षा देने की व्यवस्था प्राचीन भारत में थी। कार्य विभाजन के द्वारा विभिन्न शिल्पों और व्यवसायों में लोग निपुणता प्राप्त करने लगे जिससे सामाजिक प्रगति को बल मिला तथा समाज में सन्तुलन भी बना रहा।

(v) **संस्कृति का संरक्षण तथा प्रसार:** शिक्षा संस्कृति के परिरक्षण तथा परिवर्धन का प्रमुख माध्यम है। इसी के द्वारा प्राचीन संस्कृति वर्तमान में जीवित रहती है तथा पूर्वकालिक परम्पराओं में जीवनीइस उद्देश्य को सम्यक् शक्ति आती है। अतः प्राचीन शिक्षा पद्धति ने- रूप से पूरा किया। विभिन्न वर्णों के लोगों का कर्तव्य था कि वे अपनी सन्तति को अपने वर्ण से सम्बन्धित सभी प्रकार के शिल्पों एवं प्रगति के विषय में प्रारम्भ में ही शिक्षित कर दें। आर्य जाति की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य वैदिक साहित्य को सुरक्षित बनाये रखना था। एतदर्थ में यह व्यवस्था की गयी कि प्रत्येक विद्यार्थी वेदों को कण्ठस्थ करे तथा उसे अपने मस्तिष्क में सुरक्षित रखे। बाह्मणों का एक वर्ग अपने पवित्र ग्रन्थों की स्मृति सुरक्षित रखने को सदा उद्यत रहता था। कुछ लोग काव्यशास्त्र, व्याकरण, लौकिक साहित्य, तर्कविद्या, दर्शन में निपुण होकर प्राचीन ज्ञानविज्ञान को सुरक्षित रखते थे। भारत में वेद तथा अन्य धर्म ग्रंथ - जिसप्रकार से आज तक जीवित है उसकी समता किसी अन्य सभ्यता में देखने को नहीं मिलती है।

(vi) **निष्ठा तथा धार्मिकता का संचार करना:** भारत की प्राचीन संस्कृति धर्मप्राण रही है जहाँ धर्म ने संस्कृति के सभी पहलुओं को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। अतः शिक्षा पद्धति भी धर्म से प्रभावित थी तथा उसका एक प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों में निष्ठा एवं धार्मिकता की भावना जागृत करना था। विद्यारम्भ में जो संस्कार होते थे, गुरुकुल में विद्यार्थी के लिये जो अनुष्टान एवं व्रत निर्धारित थे तथा उसकी जो प्रतिदिन की प्रार्थना होती थी, इन सबके द्वारा उसके मस्तिष्क में पवित्रता एवं धार्मिकता का उदय होता था।

शिक्षा के पाठ्यक्रम: ऋग्वैदिक अथवा पूर्वयक्रम वैदिक वैदिक काल में शिक्षा का मुख्य पाठ्- साहित्य का अध्ययन ही था। पवित्र वैदिक ऊचाओं के अतिरिक्त इतिहास, पुराण तथा नाराशंसी गाथायें एवं खगोलविद्या-, ज्यामिति, छन्दशास्त्र आदि भी अध्ययन के विषय थे। वैदिक साहित्य का अध्ययन नौ या दस वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता था। यही उपनयन

का भी समय था । उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण ग्रन्थ लिखे गये तथा ये शिक्षा के विषय वन गये । उपनिषद् तथा सूत्रों के युग में वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण पर बल दिया गया । इसलिये पदपाठ, कर्मपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि विधियां प्रचलित की गयीं । वैदिक साहित्य के अध्ययन को सरल बनाने के निमित्त छः वेदांगों की रचना हुईशिक्षा-, कल्प, व्याकरण निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष ।

सूत्र युग के अन्त तक आतेआते वैदिक साहित्य का अध्ययन कम हो गया तथा - उसके स्थान पर अन्यान्य विषयों का समावेश पाठयक्रम में कर लिया गया । दर्शन, धर्मशास्त्र, महाकाव्य । व्याकरण (रामायण और महाभारत), खगोलविद्या, मूर्तिकला, वैद्यक, पोतनिर्माण कला के क्षेत्र में प्रगति हुई । विभिन्न व्यवसायों तथा शिल्पों की भी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया । धार्मिक तथा लौकिक विषयों की शिक्षा में समन्वय स्थापित किया गया । इस युग के स्नातक वेदों तथा 18 शिल्पों में निपुण होते थे ।

अट्ठारह शिल्प निम्नलिखित थे:

(1) गायन, (2) वादन, (3) चित्रकला, (4) गणना, (5) नृत्य, (6) गणना, (7) यन्त्र,(8) मूर्तिकला,(9) कृषि,(10) पशुपालन,(11) वाणिज्य,(12) चिकित्सा,(13) विधि,(14) प्रशासनिक प्रशिक्षण, (15) धनुर्विद्या तथा शिक्षा, (16) जादूगर, (17) सर्पविद्या तथा विष दूर करने की विधि, (18) छिपे हुए धन के पता लगाने की विधि । प्राचीन भारतीय साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के विवरण से पता चलता है कि यहीं शिक्षा के पाठ्यक्रम में चार वेद, छवेदांग :, 14 विधायें, 18 शिल्प, 64 कलायें आदि सम्मिलित थे । 14 विधाओं से तात्पर्य चार वेद, 6 वेदांग, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा तथा तर्क से है । हुएनसांग तथा अल्वेरूनी के विवरण से पता चलता है कि व्याकरण तथा ज्योतिष की शिक्षा का भारत में बहुत अधिक प्रचलन था ।

इस प्रकार से हम यह कह सकते है कि भारत मे शिक्षा पद्धति एक सुनियोजित प्रणाली पर आधारित थी , जिसमे बालक के सर्वांगीण विकास पर कार्य किया जाता था जिसके अंतर्गत अनुशासन, व्यवहार , वेद वेदांग-, सम्बंधित वर्ण हेतु विशिष्ट कौशल ज्ञान, भाषासंस्कृति-, आध्यात्म , सामाजिक कर्तव्यों का बोध कराया जाता था ।